UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182243

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—67—11-1-68—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81·6 D581 Accession No. H4034

Author दिनकर, रामधारीसिंह ·

Title इतिहास के आँसू · 1951 ·

This book should be returned on or before the date last marked below.

इतिहास के आँसू

रामधारी सिंह दिनकर

श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड
नयाटोला, पटना—४

प्रकाशक
उदयाचल, पटना

acked 1969

[स्वत्वाधिकारी लेखक]

प्रथम संस्करण : १९५१ ई०

मुद्रक
मोहनलाल विश्नोई
मोहन प्रेस
शिव निकेतन, कदमकुआँ
पटना–३

मूल्य ३]

दो शब्द

दिनकरजी की राष्ट्रीय कविताओं की तरह उनकी ऐतिहासिक कविताओं की भी देश में खूब प्रसिद्धि हुई; बल्कि, एक ओर, जहाँ वे राष्ट्र की वीर आत्मा के उद्घोष माने गये हैं, वहाँ दूसरी ओर अनेक आलोचक उन्हें अतीत के गायक के रूप में भी अभिहित करते रहे हैं। इधर, उनके कई काव्यप्रेमियो की ओर से यह सुझाव आता रहा है कि उनकी ऐतिहासिक कविताओं का एक संग्रह अलग भी निकाल दिया जाय तो अच्छा रहे।

यह सुअवसर हमें आज प्राप्त हुआ और हम "इतिहास के आँसू" नामक वर्त्तमान संग्रह को लेकर पाठकों की सेवा में उपस्थित हो रहे हैं, जिसमें "दिल्ली" और "हिमालय" को छोड़कर दिनकरजी की, प्रायः, सब प्रमुख ऐतिहासिक कविताएँ संगृहीत हैं। इस संग्रह मे कुछ नई रचनाएँ भी है, जिनमें से "मगध-महिमा" नामक पद्य-नाटिका सबसे उल्लेखनीय है। इसकी रचना कवि ने सन् १९४८ ई० में की थी और इसका एकाध जगह अभिनय भी हुआ है। यह नाटिका काव्यप्रेमियों के द्वारा मजे में अभिनीत की जा सकती है; यद्यपि, इसका आनन्द अभिनय तक ही सीमित नही है।

पटना
मार्गशीर्ष
२००८ संवत्

——प्रकाशक

पुण्यश्लोक

स्वर्गीय डाक्टर काशीप्रसादजी जायसवाल

की

स्मृति में

विषय-सूची

१.	मङ्गल-आह्वान	१
२.	मगध-महिमा (पद्य-नाटिका)	५
३.	अतीत के द्वार पर	२९
४.	पाटलिपुत्र की गंगा से	३६
५.	मिथिला	४२
६.	वैशाली	४५
७.	बोधि-सत्त्व	४७
८.	कलिंग-विजय	५०
९.	वसन्त के नाम पर	६२
१०.	बिंबिसार की समाधि	६७

व्योम-कुञ्जों की परी अयि कल्पने !
भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं ;
रुक न सकती मृत्तिका आकाश में,
शक्ति है तो आ, बसा अलका यहीं।

फूल से तेरे विभूषित अंग हैं,
और हीरक-ओस का शृंगार है;
धूल में तरुणी-तरुण हम रो रहे,
वेदना का शीश पर गुरु भार है।

अरुण की चिर ज्योति तेरे देश में,
है सुना, उसकी अमिट मुसकान है;
टकटकी अपनी क्षितिज पर है लगी,
निशि गई, हँसता न स्वर्ण-विहान है।

व्योम-कुञ्जों की सखी, अयि कल्पने !
आ उतर हँस ले जरा वन-फूल में;
रेणुके ! हँसने लगे जुगनू, चला,
आज कूकें खँडहरों की धूल में !

इतिहास के आँसू

बाट जोहता हूँ लाचार;
आओ स्वरसम्राट् ! उदार।

पल भर को मेरे प्राणों में
ओ विराट् गायक ! आओ;
इस वंशी पर रसमय स्वर में
युग-युग के गायन गाओ !

वे गायन, जिनको न आज तक
गाकर सिरा सका जल-थल ;
जिनकी तान-तान पर आकुल
सिहर-सिहर उठता उडु-दल।

आज सरित का कल-कल, छल-छल,
निर्झर का अविरल झर-झर,
पावस की बूँदों की रिमझिम,
पीले पत्तों का मर्मर,

जलधि-साँस, पक्षी के कलरव,
अनिल-नाद, अलि का गुन-गुन,
मेरी वंशी के छिद्रों में
भर दो ये मधुस्वर चुन-चुन !

इंगित करो, बाँसुरी में से
उठें प्रभाती राग महान;
तीनों काल ध्वनित हों स्वर ,में
जागें सुप्त भुवन के प्राण !

गत विभूति, भावी की आशा
ले युगधर्म पुकार उठे;
सिंहों की घन-अन्ध गुहा में
ज्योतिपूर्ण हुंकार उठे ।

जिनका लुटा सुहाग, हृदय में
उनके दारुण हूक उठे;
चीखूं यों कि याद कर ऋतुपति
की कोयल रो कूक उठे।

प्रियदर्शन इतिहास कंठ में
आज ध्वनित हो काव्य बने;
वर्त्तमान की चित्रपटी पर
भूतकाल सम्भाव्य बने ।

जहाँ-जहाँ घन-तिमिर हृदय में
भर दो वहाँ विभा प्यारी;
दुर्बल प्राणों के रंध्रों में
देव ! फूंक दो चिनगारी।

ऐसा दो वरदान, कला को
कुछ भी रहे अजेय नहीं;
रजकण से ले पारिजात तक
कोई रूप अगेय नहीं।

प्रथम खिली जो मधुर ज्योति
कविता बन तमसा-कूलों में;
जो हँसती आ रही युगों से
नभ-दीपों, वन-फूलों में;

सूर-सूर, तुलसी-शशि जिसकी
विभा यहाँ फैलाते हैं,
जिसके बुझे कणों को पा कवि
अब खद्योत कहाते हैं;

उसकी विभा प्रदीप्त करे
मेरे उर का कोना-कोना;
छू दे यदि लेखनी, धूल भी
चमक उठे बनकर सोना!

१९३३

मगध-महिमा

[पद्य-नाटिका]

दृश्य १

[नालन्दा का खँडहर : गैरिक वसन पहने हुए कल्पना खँडहर के भग्न प्राचीरों की ओर जिज्ञासा से देखती हुई गा रही है।]

कल्पना का गीत

यह खँडहर किस स्वर्ण-अजिर का ?

धूलों में सो रहा टूटकर रत्नशिखर किसके मन्दिर का ?
यह खँडहर किस स्वर्ण-अजिर का ?

यह किस तापस की समाधि है ?
किसका यह उजड़ा उपवन है ?
ईंट-ईंट हो बिखर गया यह
किस रानी का राजभवन है ?

यहाँ कौन है रुक-रुक जिसको
रवि-शशि नमन किये जाते हैं?
जलद जोड़ते हाथ और
आँसू का अर्घ्य दिये जाते हैं।

प्रकृति यहाँ गंभीर खड़ी
किसकी सुषमा का ध्यान रही कर?
हवा यहाँ किसके वन्दन में
चलती रुक-रुक, ठहर-ठहर कर?

है कोई इस शून्य प्रान्त में
जो यह भेद मुझे समझा दे,
रजकण में जो किरण सो रही
उसका मुझको दरस दिखा दे?

[*नेपथ्य से इतिहास उत्तर देता है।*]

इतिहास के गीत

१

कोमले! धीरे-धीरे गा!
यह टूटा प्रासाद सिद्धि का, महिमा का खँडहर है;
ज्ञानपीठ यह मानवता की तपोभूमि उर्वर है।
इस पावन गौरव-समाधि को सादर शीश झुका।
कोमले! धीरे-धीरे गा!

२

मैं बूढ़ा प्रहरी उस जग का
जिसकी राह अश्रु से गीली;
मुरझा कर ही जहाँ शरण
पाती दुनिया की कली फबीली।

डूब गई जो कभी चाँदनी
वही यहां पर लहराती है;
उजड़े वन, सूखे समुद्र,
डूबे दिनमणि मेरी थाती है।

मैं चारण हूँ मूतक विश्व का,
सब इतिहास मुझे कहते हैं;
सिंहासन को छोड़ लोग
मेरे घर आते ही रहते हैं।

धूलों में जो चरण-चिह्न हैं,
पत्थर पर जो लिखी कथा है,
मुझे ज्ञात है, इस खँडहर के
कण-कण में जो छिपी व्यथा है।

ईंटों पर जिनकी लकीर,
पत्थर पर जिनकी चरण-निशानी;

जिनकी धूल गमकती मह-मह,
उन फूलों की सुनो कहानी।

यहीं मगध में कहीं एक थी
उरुवेला वनभूमि सुहावन;
जिसे देख रम गया तपस्या में
गौतम संन्यासी का मन।

छह वर्षों तक घोर तपस्या की,
पर, तत्त्व नहीं लख पाये;
अमृत खोजने को निकले थे,
पर, तप से न उसे चख पाये।

कृश हो गई देह अनशन से,
अति दुष्कर तप करते-करते;
रही अस्थि भर शेष, तथागत
बचे किसी विध मरते-मरते।

बरगद के नीचे बैठे, थे
सोच रहे, अब कौन राह है;
तप से शक्ति क्षीण होती है,
सम्मुख यह सागर अथाह है

ऐसे में, ले स्वर्ण-पात्र में
पावन खीर सुजाता आई;
वट - वासी देवता - सदृश
उसको कृश गौतम पड़े दिखाई।*

अंचल से पद पोंछ, चढ़ा कर
धूप, दीप, अक्षत, फल, रोली;
सम्मुख थाल परोस, देवता से
कर जोड़ सुजाता बोली।

[पट-परिवर्त्तन]

दृश्य २

[*उरुवेला की भूमि : बरगद के पेड़ के नीचे कृशकाय गौतम विराजमान हैं; सामने सोने की थाल में खीर परोसी हुई है : आरती जल रही है : धूप का धुआँ उठ रहा है : सामने सुजाता प्रार्थना कर रही है।*]

---

* सुजाता ने अपने ग्राम के वट-देवता से यह माँगा था कि अगर मुझे पुत्ररत्न की प्राप्ति हो तो मैं तुझे खीर खिलाऊँगी। उसे पुत्र हुआ और जिस दिन वह वटवृक्ष को खीर चढ़ानेवाली थी, ठीक उसी दिन, गौतम उसी वृक्ष के नीचे आ विराजमान हुए, जिससे सुजाता ने यह समझा कि वट-देवता ही देह धरकर वृक्ष के नीचे बैठ गये हैं।

सुजाता का गीत

हमारे पूरे ज्यों मन-काम।
पूर्ण करें वटदेव! तुम्हारी भी इच्छा त्यों राम।
हमारे पूरे ज्यों मन-काम।

जैसे आसमान में तारे,
फूलें त्यों संकल्प तुम्हारे,
अन्धकार में उगो, देवता! तुम शशि-सूर्य-समान।

जग को स्नेह-सलिल से सींचो,
जीव-जीव पर अमृत उलीचो,
रहे उजागर नाम तुम्हारा देश-देश, प्रति धाम।

भरी गोद मेरी यह जैसे,
— पूर्णकाम तुम भी हो वैसे,*
मिला मुझे ज्यों तोष देव! त्यों मिले तुम्हें उपराम।
हमारे पूरे ज्यों मन-काम।

---

* सुजाता की यह शुभैषणा पूर्णरूप से चरितार्थ हुई, क्योंकि उसीकी खीर खाने के बाद बोधिवृक्ष के नीचे गौतम ने वह गहरी समाधि लगाई जिसमें उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हुआ। कहते हैं, सुजाता के मुख से यह आशीर्वाद सुनकर भगवान अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि जब तक तुम-सी भोली नारियाँ मौजूद हैं, तब तक मुझे भी सफलता की आशा है।

गौतम का गीत

तुम्हारे हाथों की यह खीर।
माँ! बल दे, मैं तोड़ सकूँ भव की दारुण जंजीर!
तुम्हारे हाथों की यह खीर।

यहाँ जन्म से मरण-काल तक केवल दुख-ही-दुख है;
वह भी है निस्सार, दीखता जहाँ-तहाँ जो सुख है।
फूलों-सा दो दिन हँसकर झर पड़ता मनुज-शरीर।
तुम्हारे हाथों की यह खीर।

मैं हूँ कौन? कौन तुम? हम दोनों में क्या नाता है?
खेल-खेल दो रोज, मनुज फिर चला कहाँ जाता है?
सता रहे हैं मुझे, जननि! ये प्रश्न गहन-गंभीर।
तुम्हारे हाथों की यह खीर।

खोज रहा हूँ जिसे, अमृत की अगर मिली वह धार;
नर के साथ देवताओं का भी होगा उद्धार।
हैं जल रहे अदृश्य आग में तीनों लोक अधीर।
तुम्हारे हाथों की यह खीर।

रवि-सा उगूँ तिमिर में, सच ही, यह मेरी अभिलाषा,
आज देखकर तुम्हें विजय की हुई और दृढ़ आशा।
आशिष दो, ला सकूँ जगत के मरु में शीतल नीर।
तुम्हारे हाथों की यह खीर।

[पट-परिवर्त्तन]

दृश्य ३

[प्रथम दृश्य की आवृत्ति : कल्पना खड़ी सुन रही है : इतिहास नेपथ्य के भीतर से गाता है।]

इतिहास के गीत

१

सुधा-सर का करते संधान।
उरुवेला में यहीं कहीं विचरे गौतम गुणवान।
बैठे तरुतल यहीं लगा मुनि सहस्रार में ध्यान;
यहीं मिला बुद्धत्व, तथागत हुए यहीं भगवान।
सुधा-सर का करते संधान।

२

कल्पने! पूछ न कोई बात!
यह मिट्टी वह, खिला धर्म का कमल जहाँ अवदात;
फूटा जहाँ मृदुल करुणा का पहला दिव्य प्रपात।
कल्पने! पूछ न कोई बात!

कल्पना का गीत

कौन है इस गह्वर के पार?
रजकण में यह लोट रहा किस गरिमा का शृंगार?
कौन है इस गह्वर के पार?

धूल फूल-सी मह-मह करती,
चारों ओर सुरभि है भरती,
उपवन था वह कौन यहाँ जो हुआ सुलग कर क्षार?
कौन है इस गह्वर के पार?

जन-रव का मुकुलित कल-कल है,
तिमिर-कक्ष में कोलाहल है,
झनक रही है अन्धकार में यह किसकी तलवार?
कौन है इस गह्वर के पार?

दीपित देश-विदेश अभी भी,
विभा विमल है शेष अभी भी,
जला गया यह अमर धर्म का दीपक कौन उदार?
कौन है इस गह्वर के पार?

[*नेपथ्य के भीतर से इतिहास गाता है।*]

इतिहास के गीत

१

कल्पने! धीरे-धीरे बोल!
पग-पग पर सैनिक सोता है, पग-पग सोते वीर,
कदम-कदम पर यहाँ बिछा है ज्ञानपीठ गंभीर।
यह गह्वर प्राचीन अस्तमित गौरव का खँडहर है!
सूखी हुई सरित का तट यह उजड़ा हुआ नगर है।

एक-एक कण इस मिट्टी का मानिक है अनमोल।
कल्पने ! धीरे-धीरे बोल !

२

यह खँडहर उनका, जिनका जग
कभी शिष्य औ' दास बना था;
यह खँडहर उनका, जिनसे
भारत-भू का इतिहास बना था।

कहते हैं, पा चंद्रगुप्त को
मगध सिन्धुपति-सा लहराया,
राह रोकने को पश्चिम से
सेल्यूकस सीमा पर आया।

मगधराज की विजय-कथा सुन
सारा भारतवर्ष अभय हो;
विजित किया सीमा के अरि को,
राजा चंद्रगुप्त की जय हो।

[पट-परिवर्त्तन]

दृश्य ४

[*मगध की राजधानी का राजपथ : जहाँ-तहाँ फूलों के तोरण और वन्दनवार सजे हैं : ठौर-ठौर पर मंगल-कलश रखे हुए हैं*

तथा दीप जल रहे हैं : सड़क के दोनों ओर के महल भी सुसज्जित दीखते हैं : रास्ते पर नागरिक आनन्द की मुद्रा में आ रहे हैं-जा रहे हैं। नागरिकों का एक दल गाता हुआ प्रवेश करता है।]

नागरिकों का गीत

सब : जय हो, चंद्रगुप्त की जय हो!

एक : जय हो उस नरवीर सिंह की, जिसकी शक्ति अपार,
जिसके सम्मुख काँप रहा थर-थर सारा संसार।
मोरिय-वंश अजय हो!

सब : चंद्रगुप्त की जय हो!

दूसरा : जय हो उसकी, हार खड़ा जिसके आगे यूनान,
जिसका नाम जपेगा युग-युग सारा हिन्दुस्तान
दिन-दिन भाग्य-उदय हो;

सब : चंद्रगुप्त की जय हो!

कोरस : जय हो बल-विक्रम-निधान की,
जय हो भारत के कृपाण की,
जय हो, जय हो मगधप्राण की!
सारा देश अभय हो;
चंद्रगुप्त की जय हो!

तीसरा : गली-गली में तुमुल रोर है, घर-घर चहल-पहल है;
जिधर सुनो, बस, उधर मोद-मंगल का कोलाहल है।

पहला : घर-घर में, बस, एक गान है, सारा देश अभय हो !
घर-घर में, बस, एक तान है, चन्द्रगुप्त की जय हो !

[*नेपथ्य में शंखध्वनि होती है ।*]

दूसरा : देख रहे क्या यहाँ ? शंख जय का वह उठा पुकार;
मगधराज का शुरू हो गया, स्यात्, विजय-दरबार !

चौथा : हाँ, राजा जा चुके, जा चुके हैं चाणक्य प्रवीण,
सेल्यूकस के साथ गया है पंडित एक नवीन ।

पाँचवाँ : और सुनो, यह खास बात कहती थी मुझसे चेटी,
सेल्यूकस के साथ गई है सेल्यूकस की बेटी ।

सब . चलो, चलें, देखें दरबार !
चलो, चलें : चलो, चलें !
[*सब जाते हैं :*]

[**पट-परिवर्त्तन**]

दृश्य ५

[*चन्द्रगुप्त का राजदरबार : सेल्यूकस, सेल्यूकस की युवती कन्या और मेगस्थनीज एक ओर बैठे हैं : चन्द्रगुप्त, चाणक्य और सभासद यथास्थान । चौथे दृश्यवाले नागरिक भी आते हैं ।*]

एक नागरिक : (*आपस में कानोंकान*)
हैं महाराज खुद बोल रहे,
मत हिलो-डुलो,
चुपचाप सुनो !

चन्द्रगुप्त

मगधराज्य के सभासदो! पाटलीपुत्र के वीरो!
मगध नहीं चाहता किसी को अपना दास बनाना।
गुरु कहते हैं, दासभाव आर्यों के लिए नहीं है; *
मैं कहता हूँ, मनुजमात्र ही गौरव का कामी है।
मैं न चाहता, हरण करें हम किसी देश का गौरव,
किसी जाति को जीत उसे फिर अपना दास बनायें।
उठी नहीं तलवार मगध की किसी लोभ-लालच से,
और न हम प्रतिशोध-भाव से प्रेरित हुए कभी भी।

छिन्न-भिन्न है देश, शक्ति भारत की बिखर गई है;
हम तो केवल चाह रहे हैं उसको एक बनाना
मृदु विवेक से, बुद्धि-विनय से, स्नेहमयी वाणी से,
अगर नहीं, तो धनुष-बाण से, पौरुष से, बल से भी।
ऋषि हैं गुरु चाणक्य; नीति उनकी हम बरत रहे हैं।

भरतभूमि है एक, हिमालय से आसेतु निरन्तर,
पश्चिम में कंबोज-कपिश तक उसकी ही सीमा है।
किया कौन अपराध, गये जो हम अपनी सीमा तक?
अनाहूत हमसे लड़ने क्यों सेल्यूकस चढ़ आया?
मदोन्मत्त यूनान जानता था न मगध के बल को,
समझा था वह हमें छिन्न, शायद, पुरु के केकय-सा।

* न दासभावो ह्यार्यस्य (कौटिल्य का अर्थशास्त्र)।

वह कलंक का पंक आज धुल गया देश के मुख से।
हम कृतज्ञ हैं, सेल्यूकस ने अवसर हमें दिया है।

वीर सिकन्दर के गौरव का प्रतिभू सेल्यूकस था;
आज खड़ा है वह विपन्न, आहत-सा मगध-सभा में;
उस बलिष्ठ शार्दूल-सदृश निष्प्रभ, हततेज, अकिंचन,
पर्वत से टकरा कर जिसने नख-रद तोड़ लिये हों;
उस भुजंग-सा जिसकी मणि मस्तक से निकल गई हो;
उस गज-सा जिस पर मनुष्य का अंकुश पड़ा हुआ हो।
सभा कहे, बरताव कौन-सा मगध करे इस अरि से।

प्रमुख सभासद

महाराज ने कहीं न ये अपने मन की ही बातें,
यही भाव है मगध देश के धर्मशील जन-जन में।
नहीं चाहते किसी देश को हम निज दास बनाना,
पर, स्वदेश का एक मनुज भी दास न कहीं रहेगा।
हम चाहते सन्धि; पर, विग्रह कोई खड़ा करे तो,
उत्तर देगा उसे मगध का महा खड्ग बलशाली।
सेल्यूकस के साथ किन्तु, कैसा बरताव करें हम,
इसका उचित निदान बतायें गुरु चाणक्य स्वयं ही;
क्योंकि सभा अनुरक्त सदा है उनकी ज्ञान-विभा पर।

चाणक्य

आग के साथ आग बन मिलो,
और पानी से बन पानी
गरल का उत्तर है प्रतिगरल,
यही कहते जग के ज्ञानी।

मित्र से नहीं शत्रुता और
शत्रु से नहीं चाहिए प्रीति;
माँगने पर दो अरि को प्रेम,
किन्तु, है यह भी मेरी नीति।

शक्ति के मद में होकर चूर
विजय को निकला था यूनान,
एक ही टकराहट में गया
मगध को वह लेकिन, पहचान।

प्रीति जो निकली पीछे झूठ,
भीति क्या? हम तो हैं तैयार;
चरण फिर फिर चूमेगी जीत,
मगध की तेज रहे तलवार।

अतः, है सेल्यूकस के हाथ,
मित्रता ले या ले आमर्ष,
खड़ा है लेकर दोनों भेंट
ग्रीस के सम्मुख भारतवर्ष।

सेल्यूकस

सामने नहीं, मंच पर आज
खड़ा है विजयी भारत वीर,
और है मिट्टी पर यूनान,
पराजय की पहने जंजीर।

हमारी बँधी हुई है जीभ,
हमारी कसी हुई है देह,
भला फिर मैं माँगूँ किस भाँति
गुणी चाणक्य ! वैर या स्नेह ?

मित्रता या कि शत्रुता घोर,
आपका जो जी चाहे करें,
एक है लेकिन, छोटी बात,
विनय है, उसको मन में धरें।

याद है, कल पोरस के साथ
सिकन्दर ने सलूक जो किया ?

चन्द्रगुप्त

धन्य सेल्यूकस ! तुमने खूब
आज गुरुवर को उत्तर दिया।

वीरता का सच्चा बन्धुत्व,
झूठ है हार-जीत का भेद;
वीर को नहीं विजय का गर्व,
वीर को नहीं हार का खेद।

किये मस्तक जो ऊँचा रहे
पराजय-जय में एक समान,
छीनते नहीं यहाँ के लोग
कभी उस वैरी का अभिमान।

सिकन्दर ही न, और भी लोग
प्रेम करते हैं अरि के साथ।
मगध का कर ग्रह देखो बढ़ा,
बढ़ाओ अब तो अपना हाथ।

[चन्द्रगुप्त सिंहासन पर से अपना हाथ बढ़ाता है : सेल्यूकस दोनों हाथों से उसे थाम लेता है।]

सेल्यूकस

जय हो मगधनरेश ! न था मुझको इसका अनुमान,
आज पराजित है, सचमुच ही, भारत में यूनान।
जय हो, दिन-दिन बढ़े मगध का बल, वैभव, उत्कर्ष,
हुआ आज से सेल्यूकस का भी गुरु भारतवर्ष।

सन्धि नहीं, संबंध जोड़कर मुझको करें सनाथ,
अर्पित है दुहिता यह मेरी, पकड़ें इसका हाथ।
ग्रीस देश की इस मणि को उर-पुर में रखें सहेज,
सीमा पर के चार प्रान्त देता हूँ इसे दहेज।
आज्ञा हो तो राजदूत मेगस्थनीज़ को छोड़,
अब जाऊँ मैं शेष दिवस काटने ग्रीस की ओर।

[*चन्द्रगुप्त सेल्यूकस की पुत्री को उठाकर सिंहासन पर बिठलाते हैं : मेगस्थनीज उठकर राजा को प्रणाम करता है।*]

[*नागरिकों का कोरस गाते हुए प्रस्थान*]

जय हो, चंद्रगुप्त की जय हो।
जय हो बल-विक्रम-निधान की,
जय हो भारत के कृपाण की,
जय हो, जय हो मगधप्राण की,
सारा देश अभय हो,
चंद्रगुप्त की जय हो।

[*गीत दूर पर खत्म होता सुनायी पड़ता है।*]

[पट-परिवर्त्तन।]

दृश्य ६

[प्रथम दृश्य की आवृत्ति: सामने कल्पना खड़ी सुन रही है : नेपथ्य के भीतर से इतिहास गाता है।]

इतिहास के गीत

१

कल्पन ! तब आया वह काल।
उठा जगत में धर्म-तिलक-दीपित भारत का भाल
फिलस्तीन, ईरान, मिस्र, तिब्बत, सिंहल, जापान,
चीन, श्याम, सबने भारत के पद परसे गुरु मान।
भींग गई करुणा के जल से धरणी हुई निहाल।
कल्पने ! तब आया वह काल।

२

करुणा की नई झंकार।
साधना की बीन से निकली अधीर पुकार।
स्नेह मानव का विभूषण, स्नेह जीवन-सार,
सत्य को नर ने निहारा, स्यात्, पहली बार।
फट गया अन्तर जयी का देख नर-संहार,
जीतकर भी झुक गई संकोच से तलवार।
करुणा की नई झंकार।

३

एक बार कलिंग की करतूत से हो क्रुद्ध,
है कथा कि अशोक कर बैठे भयानक युद्ध।

जय मिली, पर, देख मृतकों से भरा रणप्रान्त,
हो उठा सम्राट् का भावुक हृदय उद्भ्रान्त।
देखकर रणभूमि को नर के रुधिर से लाल
रात भर रोते रहे निज कृत्य पर भूपाल।

(पट-परिवर्त्तन।)

दृश्य ७

(कलिंग की युद्धभूमि : लाशों से पटी हुई धरती पर फीकी चाँदनी फैली हुई है: घायल कराह रहे हैं, रह-रह कर "पानी ! पानी" की आवाज आती है : एक ओर जरा ऊँची जमीन पर मगध की राजपताका निष्कम्प झुकी हुई है, मानों, वह शर्म से अपना मस्तक नहीं उठा सकती। ध्वजा के दंड से पीठ लगाए हुए सम्राट् अशोक परिताप की मुद्रा में खड़े हैं।)

अशोक के गीत

१

जय की वासने उद्दाम!
देख ले भर आँख निज दुष्कृत्य के परिणाम।
रुंड-मुंडों के लुठन में नृत्य करती मीच;
देख ले भर आँख धरती पर रुधिर की कीच।
मनुज के पाँवों-तले मर्दित मनुज का मान,
आदमीयत के लहू में आदमी का स्नान।
जय की वासने उद्दाम!

२

रण का एक फल संहार ।
मातृमुख की वेदना, वैधव्य की चीत्कार।
गन्ध से जिनकी कभी होता मुदित संसार,
वे मुकुल असमय समर में हाय, होते क्षार।
देह की जो जय, वही भावुक हृदय की हार,
जीतते संग्राम हम पहले स्वयं को मार।
रण का एक फल संहार।

३

हमने क्या किया भगवान ?
यह बहा किसका लहू ? किसका हुआ अवसान ?
कौन थे, जिनको न जीने का रहा अधिकार ?
कौन मैं, जिसने मचाया यह विकट संहार ?
ऊर्मियाँ छोटी-बड़ी, पर, वारि एक समान।
सत्य ओझल, सामने केवल खड़ा व्यवधान।
हमने क्या किया भगवान ?

४

पापी खड्ग घोर कठोर !
ले विदा मुझसे, सदा को संग मेरा छोड़।
अब नहीं जय की तृषा, फिर अब नहीं यह भ्रान्ति,
अब नहीं उन्माद फिर यह, अब नहीं उत्क्रान्ति।

अब नहीं विकरालता यह शत्रु के भी साथ,
अब रँगूँगा फिर नहीं नर के रुधिर से हाथ।
जोड़ना संबन्ध क्या जय से, दया को छोड़?
खोजना क्या कीर्ति अपने को लहू में बोर?
पापी खड्ग घोर कठोर!

५

गूँजे धर्म का जयगान।
शान्ति-सेवा में लगें समवेत तन, मन, प्राण।
व्यर्थ प्रभुता का अजय मद, व्यर्थ तन की जीत,
सार केवल मानवों से मानवों की प्रीत।
मृत्ति पर रेखा विजय की खींचते हम लाल,
मेटता उसको हमारी पीठ-पीछे काल।
पर, विजय की एक भू है और जिसके पास
मृत्यु जा सकती न; करती है अमरता वास।
ज्योति का वह देश, करुणा की जहाँ है छाँह,
अबल भी उठते जहाँ धर कर बली की बाँह।
दृग वही जो कर सके उस भूमि का सन्धान,
जो वहाँ पहुँचा सके सच्चा वही उत्थान।
गूँजे धर्म का जयगान।

[पट-परिवर्त्तन।]

दृश्य ८

(प्रथम दृश्य की आवृत्ति : कल्पना खड़ी सुन रही है : नेपथ्य के भीतर से इतिहास गाता है।)

इतिहास के गीत

१

कल्पने ! जीवन के उस पार
चमक उठा आँखों के आगे एक नया संसार।
प्राणों की जब सुनी प्राण ने करुणासिक्त पुकार,
चू करके गिर गई मुष्टि से स्वयं त्रस्त तलवार।
कल्पने ! जीवन के उस पार।

२

दया की हुई जयश्री चेरी।
सकल विश्व में नृप अशोक की बजी धर्म की भेरी।
मैत्री ने मन पर मनुष्य के नई तूलिका फेरी।
जीवन के पावन स्वरूप की करुणा हुई चितेरी।
दया की हुई जयश्री चेरी।

३

कल्पने ! यह संदेश हमारा।
बसता कहीं परिधि से आगे जीवन का ध्रुवतारा।
पा न सके हम उसे सतह के ऊपर कोलाहल में,
मिला हमें वह जब हम डूबे अपने हृदय-अतल में।

चंद्रगुप्त - चाणक्य समर्थक-रक्षक रहे स्वजन के,
हीन बन्ध को तोड़ हो गये पर, अशोक त्रिभुवन के।
दो कूलों के बीच सिमटकर सरिताएँ बहती हैं,
सागर कहते उसे, दीखता जिसका नहीं किनारा।
कल्पने! यह संदेश हमारा।

१९४८] (पटाक्षेप)

अतीत के द्वार पर

जय हो, खोलो अजिर-द्वार,
मेरे अतीत ओ अभिमानी!
बाहर खड़ी लिये नीराजन
कब से भावों की रानी!

बहुत बार भग्नावशेष पर
अक्षत-फूल बिखेर चुकी;
खँडहर में आरती जला कर
रो-रो तुमको टेर चुकी।

वर्त्तमान का आज निमंत्रण,
देह धरो, आगे आओ;
ग्रहण करो आकार देवता!
यह पूजा प्रसाद पाओ।

शिला नहीं, चैतन्य मूर्ति पर
तिलक लगाने में आई;
वर्त्तमान की समर - दूतिका,
तुम्हें जगाने में आई।

कह दो निज अस्तमित विभा से,
तम का हृदय विदीर्ण करे;
होकर उदित पुनः वसुधा पर
स्वर्ण - मरीचि प्रकीर्ण करे।

अंकित है इतिहास पत्थरों
पर जिनके अभियानों का,
चरण-चरण पर चिह्न यहाँ
मिलता जिनके बलिदानों का,

गुंजित जिनके विजय-नाद से
हवा आज भी बोल रही,
जिनके पदाघात से कम्पित
धरा अभी तक डोल रही।

कह दो उनसे जगा, कि उनकी
ध्वजा धूल में सोती है,
सिंहासन है शून्य, सिद्धि
उनकी विधवा-सी रोती है।

रथ है रिक्त, करच्युत धनु है,
छिन्न मुकुट शोभाशाली,
खँडहर में क्या धरा, पड़े
करते वे जिसकी रखवाली ?

जीवित है इतिहास किसी विध
वीर मगध बलशाली का,
केवल नाम शेष है उनके
नालन्दा-वैशाली का ।

हिमगह्वर में किसी सिंह का
आज मन्द्र हुंकार नहीं,
सीमा पर बजने वाले धौंसों
की अब धुधकार नहीं !

बुझी शौर्य की शिखा हाय,
वह गौरव-ज्योति मलीन हुई;
कह दो उनसे जगा, कि उनकी
वसुधा वीरविहीन हुई ।

बुझा धर्म का दीप, भुवन में
छाया तिमिर अहंकारी;
हमीं नहीं खोजते, खोजती
उसे आज दुनिया सारी ।

वह प्रदीप जिसकी लौ रण में
पत्थर को पिघलाती है;
लाल कीच के कमल–विजय–को,
जो पद से ठुकराती है।

आज कठिन नरमेध! सभ्यता
ने थे क्या विषधर पाले!
लाल कीच ही नहीं, रुधिर के
दौड़ रहे हैं नद-नाले।

अब भी कभी लहू में डूबी
विजय विहँसती आयेगी,
किस अशोक की आँख किन्तु,
रोकर उसको नहलायेगी?

कहाँ अर्धनारीश वीर वे
अनल और मधु के मिश्रण,
जिनमें नर का तेज प्रखर था,
भीतर था नारी का मन?

एक नयन संजीवन जिनका,
एक नयन था हालाहल,
जितना कठिन खड्ग था कर में,
उतना ही अन्तर कोमल।

स्थूल देह की विजय आज,
है जग का सफल बहिर्जीवन,
क्षीण किन्तु, आलोक प्राण का,
क्षीण किन्तु, मानव का मन।

अर्चा सकल बुद्धि ने पायी,
हृदय मनुज का भूखा है;
बढ़ी सभ्यता बहुत, किन्तु,
अन्तःसर अब तक सूखा है।

यन्त्र-रचित नर के पुतले का
बढ़ा ज्ञान दिन-दिन दूना,
एक फूल के बिना किन्तु, है
हृदय-देश उसका सूना।

संहारों में अचल खड़ा है
धीर, वीर मानव ज्ञानी;
सूखा अन्तःसलिल, आंख में
आये क्या उसकी पानी?

सब कुछ मिला नये मानव को,
एक न मिला हृदय कातर;
जिसे तोड़ दे अनायास ही
करुणा की हलकी ठोकर।

'जय हो' यन्त्र-पुरुष को दर्पण
एक फूटने वाला दो;
हृदयहीन के लिए ठेस पर
हृदय टूटने वाला दो।

दो विषाद, निर्लज्ज मनुज यह
ग्लानि - मग्न होना सीखे;
विजय - मुकुट रुधिराक्त पहन कर
हँसे नहीं, रोना सीखे।

दावानल - सा जला रहा
नर को अपना ही बुद्धि-अनल,
भरो हृदय का शून्य सरोवर,
दो शीतल करुणा का जल।

जग में भीषण अंधकार है,
जगो, तिमिर - नाशक, जागो,
जगो, मन्त्र-द्रष्टा, जगती के
गौरव! गुरु! शासक! जागो।

गरिमा, ज्ञान, तेज, तप, कितने
संबल हाय, गये खोये;
साक्षी है इतिहास, वीर, तुम
कितना बल लेकर सोये।

'जय हो' खोलो द्वार, अमृत दो,
हे जग के पहले दानी!
यह कोलाहल शमित करेगी
किसी बुद्ध की ही बानी।

१९४१]

पाटलिपुत्र की गंगा से

संध्या की इस मलिन सेज पर
गंगे! किस विषाद के संग,
सिसक-सिसक कर सुला रही तू
अपने मन की मृदुल उमंग?

उमड़ रही प्लावित कर प्राणों
को कैसी वेदना अथाह?
किस पीड़ा के गहन भार से
निश्चल-सा पड़ गया प्रवाह?

मन के मौन मुकुल से कढ़कर
देवि! कौन-सी व्यथा अपार
बनकर गन्ध अनिल में मिल
जाने को खोज रही लघु द्वार ?

चल अतीत की रंगभूमि में
स्मृति-तंत्रों पर चढ़ अनजान
विकल-चित्त सुनती तू अपने
चन्द्रगुप्त का क्या जय-गान ?

घूम रहा पलकों के भीतर
स्वप्नों-सा गत विभव विराट्?
आता है क्या याद मगध का
सुरसरि! वह अशोक सम्राट्?

संन्यासिनी-समान विजन में
धर अतीत गौरव का ध्यान,
रो-रोकर गा रही देवि! क्या
गुप्त-वंश का गरिमा-गान ?

गूँज रहे तेरे इस तट पर
गंगे! गौतम के उपदेश;
ध्वनित हो रहे इन लहरों में
देवि! अहिंसा के सन्देश।

कुहुक-कुहुक मृदु गीत वही
गाती कोयल डाली-डाली ;
वही स्वर्ण-सन्देश नित्य
बन आता ऊषा की लाली।

तुझे याद है, चढ़े पदों पर
कितने जय-सुमनों के हार?
कितनी बार समुद्रगुप्त ने
धोयी है तुझमें तलवार?

तेरे तीरों पर दिग्विजयी
नृप के कितने उड़े निशान?
कितने चक्रवर्तियों ने है
किये कूल पर अवभृथ-स्नान?

विजयी चन्द्रगुप्त के पद पर
सैल्यूकस की वह मनुहार,
तुझे याद है, देवि! मगध का
वह विराट् उज्ज्वल शृंगार?

जगती पर छाया करती थी
कभी हमारी भुजा विशाल;
बार-बार झुकते थे पद पर
ग्रीक, यवन के उन्नत भाल।

उस अतीत गौरव की गाथा
छिपी इन्हीं उपकूलों में,
कीर्त्ति-सुरभि वह गमक रही
अब भी तेरे वन-फूलों में।

नियति-नटी ने खेल-कूद में
किया नष्ट सारा शृंगार;
खँडहर की धूलों में सोया
तेरा स्वर्णोदय साकार।

तूने सुख-सुहाग देखा है
उदय और फिर अस्त, सखी!
देख, आज निज युवराजों को
भिक्षाटन में व्यस्त, सखी!

एक-एक कर गिरे मुकुट,
विकसित वन भस्मीभूत हुआ;
तेरे सम्मुख महासिन्धु
सूखा, सैकत उद्भूत हुआ।

धधक उठा तेरे मरघट में
जिस दिन सोने का संसार,
एक-एक कर लगा दहकने
मगध-सुन्दरी का शृंगार

जिस दिन जली चिता गौरव की,
जय-भेरी जब मूक हुई;
जमकर पत्थर हुई न क्यों,
यदि टूट नहीं दो टूक हुई?

देवि! आज बज रही छिपी ध्वनि
मिट्टी में नक्कारों की;
गूँज रही झन-झन धूलों में
मौर्यों की तलवारों की।

दायें पार्श्व पड़ा सोता
मिट्टी में मगध शक्तिशाली,
वीर लिच्छवी की विधवा
बायें रोती है वैशाली।

तू निज मानस-ग्रन्थ खोल
दोनों की गरिमा गाती है,
वीचि-दृगों से हेर-हेर
सिर धुन-धुनकर रह जाती है।

:०: :०: :०:

देवि! दुखद है वर्त्तमान का
यह असीम पीड़ा सहना;
कहीं सुखद इससे संस्मृति में
है अतीत की रत रहना।

अस्तु, आज गोधूलि-लग्न में
गंगे ! मन्द-मन्द बहना,
गाँवों, नगरों के समीप चल
दर्द-भरे स्वर में कहना—

"सम्प्रति, जिसकी दरिद्रता का
करते हो तुम सब उपहास;
वहीं कभी मैंने देखा है
मौर्य-वंश का विभव विलास।"

१९३२]

—:o:—

मिथिला

मैं पतझड़ की कोयल उदास,
बिखरे वैभव की रानी हूँ,
मैं हरी-भरी हिम---शैल-तटी
की विस्मृत स्वप्न-कहानी हूँ।

अपनी माँ की मैं वाम भृकुटि,
गरिमा की हूँ धूमिल छाया;
मैं विकल सांध्य रागिनी करुण,
मैं मुरझी सुषमा की माया।

अस्तमित ज्योति की सखी,
नष्ट निधियों की रानी मतवाली,
खँडहर में खोज रही अपने
उजड़े सुहाग की हूँ लाली।

मैं जनक-कपिल की पुण्य जननि,
मेरे पुत्रों का महा ज्ञान;
मेरी सीता ने दिया विश्व
की रमणी को आदर्श दान।

मैं वैशाली के आसपास
खँडहर की धूलों में अजान,
सुनती हूँ साश्रु-नयन अपने
लिच्छवि-वीरों के कीर्त्ति-गान।

नीरव निशि में गंडकी विमल
कर देती मेरे विकल प्राण;
मैं खड़ी तीर पर सुनती हूँ
विद्यापति-कवि के मधुर गान।

नीलम-घन गरज-गरज बरसें
रिमझिम रिमझिम रिमझिम अथोर,
लहरें गाती हैं मधु-विहाग,
'हे हे सखि! हमर दुखक न ओर।'

चाँदनी-बीच धन-खेतों में
हरियाली बन लहराती हूँ,
आती कुछ सुधि पगली दौड़ी
मैं कपिलवस्तु को जाती हूँ।

बिखरी लट, आँसू छलक रहे,
मैं फिरती हूं मारी-मारी;
कण-कण में खोज रही अपनी
खोई अनन्त निधियाँ सारी।

मैं उजड़े उपवन की मालिन,
उठती मेरे हिय विषम हूक;
कोकिला नहीं, इस कुंज-बीच
रह रह अतीत-सुधि रही कूक।

मैं पतझड़ की कोयल उदास,
बिखरे वैभव की रानी हूँ;
मैं हरी-हरी हिम-शैल-तटी
की विस्मृत स्वप्न-कहानी हूँ।

१९३३]

०
० ०

वैशाली

ओ भारत की भूमि-वन्दिनी! ओ जंजीरोंवाली!
तेरी ही क्या कुक्षि फाड़ कर जन्मी थी वैशाली?

वैशाली! इतिहास-पृष्ठ पर अंकन अंगारों का,
वैशाली! अतीत गह्वर में गुंजन तलवारों का।

वैशाली! जन का प्रतिपालक, गण का आदि विधाता,
जिसे ढूंढ़ता देश आज उस प्रजातंत्र की माता।

रुको, एक क्षण पथिक! यहाँ मिट्टी को शीश नवाओ,
राजसिद्धियों की समाधि पर फूल चढ़ाते जाओ।

डूबा है दिनमान, इसी खंडहर में डूबी राका,
छिपी हुई है यहीं कहीं धूलों में राजपताका;

ढूंढ़ो उसे, जगाओ उनको जिनकी ध्वजा गिरी है,
जिनके सो जाने से सिर पर काली घटा घिरी है;

कहो, जगाती है उनको, बन्दिनी बेड़ियोंवाली,
नहीं उठे वे तो न बसेगी किसी तरह वैशाली।

:०: :०: :०: :०:

फिर आते जागरण-गीत टकरा अतीत-गह्वर से,
उठती है आवाज एक वैशाली के खँडहर से,

"करना हो साकार स्वप्न को तो बलिदान चढ़ाओ,
ज्योति चाहते हो तो पहले अपनी शिखा जलाओ।

जिस दिन एक ज्वलन्त वीर तुम में से बढ़ आयेगा,
एक-एक कण इस खँडहर का जीवित हो जायेगा।

किसी जागरण की प्रत्याशा में हम पड़े हुए हैं,
लच्छवि नहीं मरे, जीवित मानव ही मरे हुए हैं

१९४४]

बोधिसत्व

सिमट विश्व - वेदना निखिल बज उठी करुण अन्तर में,
देव ! हुंकरित हुआ कठिन, युगधर्म तुम्हारे स्वर में ।
काँटों पर कलियों, गैरिक पर, किया मुकुट का त्याग,
किस सुलग्न में जगा प्रभो !, यौवन का तीव्र विराग ?

चले ममता का बंधन तोड़
विश्व की महामुक्ति की ओर ।

तप की आग, त्याग की ज्वाला में प्रबोध संधान किया,
विष पी स्वयं, अमृत जीवन का तृषित विश्व को दान किया ।
वैशाली की धूल चरण चूमने ललक ललचाती है,
स्मृति-पूजन में तप-कानन की लता पुष्प बरसाती है ।

वट के नीचे खड़ी खोजती लिये सुजाता खीर तुम्हें;
बोधिवृक्ष-तल बुला रहे कलरव में कोकिल-कीर तुम्हें।
शस्त्र-भार से विकल खोजती रह-रह धरा अधीर तुम्हें,
प्रभो! पुकार रही व्याकुल मानवता की जंजीर तुम्हें।

आह! सभ्यता के आङ्गण में आज गरल-वर्षण कैसा!
घृणा सिखा, निर्वाण दिलानेवाला यह दर्शन कैसा!
स्मृतियों का अन्धेर! शास्त्र का दम्भ! तर्क का छल कैसा!
दीन, दुखी, असहाय जनों पर अत्याचार प्रबल कैसा!

आज दीनता को प्रभु की पूजा का भी अधिकार नहीं,
देव! बना था क्या दुखियों के लिए निठुर संसार नहीं?
धन-पिशाच की विजय, धर्म की पावन ज्योति अदृश्य हुई;
दौड़ो बोधिसत्त्व! भारत में मानवता अस्पृश्य हुई।

धूप-दीप, आरती, कुसुम ले भक्त प्रेमवश आते हैं;
मन्दिर का पट बन्द देख 'जय' कह निराश फिर जाते हैं।
शबरी के जूठे बेरों से आज राम को प्रेम नहीं;
मेवा छोड़ शाक खाने का याद पुरातन नेम नहीं।

पर, गुलाब-जल में गरीब के अश्रु राम क्या पायेंगे?
विना नहाये इस जल में क्या नारायण कहलायेंगे?
मनुज-मेध के पोषक, दानव आज निपट निर्द्वन्द्व हुए;
कैसे बचें दीन? प्रभु भी धनियों के गृह में बन्द हुए।

अनाचार की तीव्र आँच में अपमानित अकुलाते हैं ;
जागो बोधिसत्त्व ! भारत के हरिजन तुम्हें बुलाते हैं।
जागो विप्लव के वाक् ! दम्भियों के इन अत्याचारों से;
जागो हे जागो तप-निधान ! दलितों के हाहाकारों से;

जागो, गाँधी पर किये गये नरपशु पतितों के वारों से, ❀
जागो, मैत्री-निर्घोष ! आज व्यापक युगधर्म-पुकारों से।

जागो गौतम ! जागो महान,
जागो अतीत के क्रान्ति-गान !
जागो जगती के धर्म-तत्त्व !
जागो हे जागो बोधिसत्त्व !

१९३४ }

❀ सन् १९३३ ई० के लगभग गाँधीजी जब हरिजनोद्धार-आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए देश का दौरा कर रहे थे, तब पूना, बक्सर और देवघर में तथाकथित सनातनियों की ओर से उन पर वार किये गये थे।

कलिंग-विजय

युद्ध की इति हो गई; रण-भू श्रमित, सुनसान;
गिरिशिखर पर थम गया है डूबता दिनमान—

देखता यम का भयावह कृत्य,
अन्ध मानव की नियति का नृत्य;

सोचता, इस बन्धु-वध का क्या हुआ परिणाम?
विश्व को क्या दे गया इतना बड़ा संग्राम?

युद्ध का परिणाम?
युद्ध का परिणाम ह्रासत्रास!
युद्ध का परिणाम सत्यानाश!
रुण्ड-मुण्ड-लुठन, निर्हिंसन, मीच!
युद्ध का परिणाम लोहित कीच!

हो चुका जो कुछ रहा भवितव्य,
यह नहीं नर के लिए कुछ नव्य,
भूमि का प्राचीन यह अभिशाप,
तू गगनचारी न कर संताप।
मौन कब के हो चुके रण-तूर्य,
डूब जा तू भी कहीं ओ सूर्य।

छा गया तम. आ गये तारे तिमिर को चीर,
आ गया विधु, किन्तु, क्यों आकृति किये गंभीर?
और उस घन-खण्ड ने विधु को लिया क्यों ढाँक?
फिर गया शशि क्या लजा कर पाप नर के झाँक?
चाँदनी घन में मिली है छा रही सब ओर,
साँझ को हो दीखता ज्यों हो गया हो भोर।

मौन हैं चारों दिशाएँ, स्तब्ध है आकाश,
श्रव्य जो भी शब्द वे उठते मरण के पास।

(२)

शब्द? यानी घायलों की आह,
घाव के मारे हुओं की क्षीण, करुण कराह,
बह रहा जिसका लहू उसकी करुण चीत्कार;
श्वान जिसको नोचते उसकी अधीर पुकार।
"बूँट भर पानी, जरा पानी", रटन, फिर मौन;
घूँट भर पानी अमृत है, आज देगा कौन?

बोलते यम के सहोदर श्वान,
बोलते जम्बुक कृतान्त-समान।

मृत्यु-गढ़ पर है खड़ा जयकेतु रेखाकार,
हो गई हो शान्ति मरघट की यथा साकार।
चल रहा ध्वज के हृदय में द्वन्द्व,
वैजयन्ती है झुकी निस्पन्द।

जा चुके सब लोग फिर आवास,
हतमना कुछ और कुछ सोल्लास
अंक में घायल, मृतक, निश्चेत
शूर-वीरों को लिटाये रह गया रण-खेत।

और इस सुनसान में निःसंग,
खोजते सच्छान्ति का परिष्वंग,
मूर्त्तिमय परिताप-से विभ्राट्,
हैं खड़े केवल मगध-सम्राट्।

टेक सिर, ध्वज का लिये अवलम्ब,
आँख से झर-झर बहाते अम्बु।
भूल कर भूपाल का अहमित्व,
शीश पर वध का लिये दायित्व।

जा चुकी है दृष्टि जग के पार,
आ रहा सम्मुख नया संसार।
चीर वक्षोदेश भीतर पैठ,
देवता कोई हृदय में बैठ,
दे रहा है सत्य का संवाद,
सुन रहे सम्राट् कोई नाद।

"मन्द मानव! वासना के भृत्य!
देख ले भर आँख निज दुष्कृत्य।
यह धरा तेरी न थी उपनीत,
शत्रु की त्यों ही नहीं थी त्रीत।

सृष्टि सारी एक प्रभु का राज,
स्वत्व है सबका प्रजा के व्याज।
मान कर प्रति जीव का अधिकार,
ढो रही धरणी सभी का भार।

एक ही स्तन का पयस कर पान,
जी रहे बलहीन औ बलवान।
देखने को बिम्ब-रूप अनेक,
किन्तु दृश्याधार दर्पण एक।

मृत्ति तो बिकती यहाँ बेदाम,
साँस से चलता मनुज का काम।
मृत्तिका हो या कि दीपित स्वर्ण
साँस पाकर मूर्त्ति होती पूर्ण।

राज या बल पा अमित अनमोल,
साँस का बढ़ता न किंचित् मोल।
दीनता, दौर्बल्य या अपमान,
त्यों घटा सकते न इसका मान।

तो हुआ सब कुछ, मनुज लेकिन, रहा अब क्या न?
जो नहीं कुछ बन सका, वह भी मनुज है, मान।

हाय रे धनलुब्ध जीव कठोर!
हाय रे दारुण! मुकुटधर भूप लोलुप, चोर।
साज कर इतना बड़ा सामान,
स्वत्व निज सर्वत्र अपना मान,
खड्ग-बल का ले मृषा आधार,
छीनता फिरता मनुज के प्राकृतिक अधिकार।

चरण से प्रभु के नियम को चाप,
तू बना है चाहता भगवान अपना आप।
भौं उठा पायें न तेरे सामने बलहीन,
इसलिए ही तो प्रलय यह हाय! रे हिय-हीन।

शमित करने को स्वमद अति ऊन,
चाहिए तुझको मनुज का खून!

क्रूरता का साथ ले आख्यान,
जा चुके हैं, जा रहे हैं प्राण।
स्वर्ग में है आज हा हा कार,
चाहता उजड़ा बसा संसार।

भूमि का मानी महीप अशोक
बाँटता फिरता चतुर्दिक् शोक।
बाँटता सुत-शोक औ वैधव्य,
बाँटता पशु को मनुज का क्रव्य।
लूटता है गोदियों के लाल,
लूटता सिन्दूर-सज्जित भाल।

यह मनुज-तन में किसी शक्रारि का अवतार,
लूट लेता है नगर की सिद्धि, सुख, शृङ्गार।

शमित करने को स्वमद अति ऊन,
चाहिए उसको मनुज का खून।"

(३)

आत्म-दंशन की व्यथा, अरिताप, पश्चात्ताप,
डँस रहे सब मिल, उठा है भूप का मन काँप।

स्तब्धता को भेद बारम्बार,
आ रहा है क्षीण हाहाकार।

यह हृदय-द्रावक करुण वैधव्य की चीत्कार!
यह किसी बूढ़े पिता की भग्न आर्त्त पुकार!

यह किसी मृतवत्सका की आह
आ रही करती हुई दिव-दाह!

आ रही है दुर्बलों की हाय,
सूझता है त्राण का नृप को न एक उपाय।
आह की सेना अजेय विराट्,
भाग जा, छिप जा कहीं सम्राट्।

खड्ग से होगी नहीं यह भीत,
तू कभी इसको न सकता जीत।

सामने मन के विरूपाकार,
है खड़ा उल्लंग हो संहार।
षोडशी शुक्लाम्बराएँ आभरण कर दूर
धूल मल कर धो रही हैं माँग का सिन्दूर।
वीर बेटों की चिताएँ देख ज्वलित समक्ष,
रो रहीं माँएँ हजारों पीटती शिर-वक्ष।

हैं खुले नृप के हृदय के कान;
हैं खुले मन के नयन अम्लान।
सुन रहे हैं विह्वला की आह,
देखते हैं स्पष्ट शव का दाह।

सुन रहे हैं भूप हो कर व्यग्र,
रो रहा कैसे कलिंग समग्र!

रो रही हैं वे कि जिनका जल गया शृंगार;
रो रहीं जिनका गया मिट फूलता संसार;
जल गई उम्मीद, जिनका जल गया है प्यार;
रो रहीं जिनका गया छिन एक ही आधार।

चूड़ियाँ दो एक की प्रति गृह हुई हैं चूर,
पुछ गया प्रति गेह से दो एक का सिन्दूर।
बुझ गया प्रति गृह किसी की आँख का आलोक-
इस महा विध्वंस का दायी महीप अशोक।

ध्यान में थे हो रहे आघात,
कान ने सुन ली मगर, यह बात।
नाम सुन अपना उसाँसें खींच,
नाक-भौं, आँखें, घृणा से मीच,

इस तरह बोले महीपति खिन्न
आप से ज्यों हो गये हों भिन्न
"विश्व में पापी महीप अशोक,
छीनता है आँख का आलोक।"

दह के दुर्द्धर्ष पशु को मार,
ले चुके हैं देवता अवतार।
निन्द्य लगते पूर्वकृत सब काम,
सुन न सकते आज वे निज नाम।

अश्रु में घुल बह गया कुत्सित, निहीन, विवर्ण,
रह गया है शेष केवल तप्त, निर्मल स्वर्ण।
हूक-सी आकर गई कोई हृदय को तोड़,
ठेस से विष-भाण्ड को कोई गई है फोड़।

बह गया है अश्रु बन कर कालकूट ज्वलन्त
जा रहा भरता दया के दूध से वेशन्त।

दूध अन्तर का सरल, अम्लान,
खिल रहा मुख-देश पर द्युतिमान।
किन्तु, हैं अब भी झणत्कृत तार,
बोलते हैं भूप बारम्बार
"हाय रे! गर्हित विजय-मद ऊन,
क्या किया मैंने? बहाया आदमी का खून!"

(४)

खुल गई है शुभ्र मन की आँख,
खुल गई है चेतना की पाँख;
प्राण की अन्तःशिला पर आज पहली बार
जाग कर करुणा उठी है कर मृदुल झनकार।

आँसुओं में गल रहे हैं प्राण,
खिल रहा मन में कमल अम्लान।

गिर गया हतबुद्धि-सा थक कर पुरुष दुर्जेय,
प्राण से निकली अनामय नारि एक अमेय।
अर्धनारीश्वर अशोक महीप;
नर पराजित, नारि सजती है विजय का दीप।

पायलों की सुन मृदुल झनकार,
गिर गई कर से स्वयं तलवार।
वज्र का उर हो गया दो टूक
जग उठी कोई हृदय में हूक।

लाल किरणों में यथा हँसता तटी का देश,
एक कोमल ज्ञान से त्यों खिल उठा हृद्देश।
खोल दृग, चारों तरफ अवलोक,
सिर झुका कहने लगे मानी महीप अशोक।

"हे नियन्ता ! विश्व के कोई अचिन्त्य, अमेय !
ईश या जगदीश कोई शक्ति हे अज्ञेय !

हों नहीं क्षन्तव्य जो मेरे विगर्हित पाप,
दो वचन, अक्षय रहे यह ग्लानि, यह परिताप।

प्राण में बल दो, रखूँ निज को सदैव सँभाल,
देव ! गर्वस्फीत हो ऊँचा उठे मत भाल।

शत्रु हो कोई नहीं, हो आत्मवत् संसार,
पुत्र-सा पशु-पक्षियों को भी सकूँ कर प्यार।

मिट नहीं जाए किसी का चरण-चिह्न पुनीत,
राह में भी मैं चलूँ पग-पग सजग, सभीत।

हो नहीं मुझको किसी पर रोष,
धर्म्म का गूँजे जगत में घोष।

बुद्ध की जय ! धर्म्म की जय ! संघ का जय-गान,
आ बसें मुझमें तथागत मारजित् भगवान।"

देवता को सौंप कर सर्वस्व,
भूप मन ही मन गये हो निःस्व।

(४)

और तब उन्मादिनी सोल्लास,
रक्त पर बहती विजय आई वरण को पास।
संग लेकर ब्याह का उपहार,
रक्त-कर्दम के कमल का हार।

पर डिगे तिल भर न वीर महीप,
थी जला करुणा चुकी तब तक विजय का दीप।

१९४०]

वसन्त के नाम पर

प्रात जगाता शिशु-वसन्त को नव गुलाब दे-दे ताली;
तितली बनी देव की कविता वन-वन उड़ती मतवाली।

सुन्दरता को जगी देख कर,
जी करता मैं भी कुछ गाऊँ,
मैं भी आज प्रकृति-पूजन में
निज कविता के दीप जलाऊँ;

ठोकर मार भाग्य को फोड़ूँ
जड़ जीवन तज कर उड़ जाऊँ;
उतरी कभी न भू पर जो छवि,
जग को उसका रूप दिखाऊँ।

स्वप्न-बीच जो कुछ सुन्दर हो उसे सत्य में व्याप्त करूँ ;
और सत्य-तनु के कुत्सित मल का अस्तित्व समाप्त करूँ।

(२)

कलम उठी कविता लिखने को,
अन्तस्तल में ज्वार उठा रे!
सहसा नाम पकड़ कायर का
पश्चिम—पवन पुकार उठा रे!

देखा, शून्य कुँवर का गढ़ है,
झाँसी की वह शान नहीं है;
दुर्गादास-प्रताप बली का
प्यारा राजस्थान नहीं है।

जलती नहीं चिता जौहर की,
मुट्ठी में बलिदान नहीं है,
टेढ़ी मूँछ लिये रण-वन
फिरना अब तो आसान नहीं है।

समय माँगता मूल्य मुक्ति का,
देगा कौन मांस की बोटी?
पर्वत पर आदर्श मिलेगा,
खायें, चलो घास की रोटी।

चढ़े अश्व पर सेंक रहे रोटी नीचे कर भालों को,
खोज रहा मेवाड़ आज फिर उन अल्हड़ मतवालों को।

(३)

बात-बात पर बजीं किरीचें,
जूझ मरे क्षत्रिय खेतों में,
जौहर की जलती चिनगारी
अब भी चमक रही रेतों में।

जाग-जाग ओ थार, बता दे
कण-कण चमक रहा क्यों तेरा?
बता रंच भर ठौर कहाँ वह,
जिस पर शोणित बहा न मेरा?

पी-पी खून आग बढ़ती थी,
सदियों जली होम की ज्वाला;
हँस-हँस चढ़े सीस, आहुति में
बलिदानों का हुआ उजाला।

सुन्दरियों को सौंप अग्नि पर निकले समय-पुकारों पर
बाल, वृद्ध औ तरुण वि सते खेल गए तलवारों पर।

(४)

हाँ, वसन्त की सरस घड़ी है,
जी करता मैं भी कुछ गाऊँ;
कवि हूँ, आज प्रकृति-पूजन में
निज कविता के दीप जलाऊँ।

क्या गाऊँ? सतलज रोती है.
हाय! खिलीं बेलियाँ किनारे।
भूल गए ऋतुपति, बहते हैं,
यहाँ रुधिर के दिव्य पनारे।

बहनें चीख रहीं रावी-तट,
बिलख रहे बच्चे मतवारे,
फूल-फूल से पूछ रहे हैं—
"कब लौटेंगे पिता हमारे?"

उफ? वसन्त या मदन-बाण है?
वन-वन रूप-ज्वार आया है।
सिहर रही वसुधा रह-रह कर,
यौवन में उभार आया है।

कसक रही सुन्दरी—'आज मधु-ऋतु में मेरे कन्त कहाँ?'
दूर द्वीप में प्रतिध्वनि उठती—"प्यारी, और वसन्त कहाँ?"
१९३५]

फूँक दे जो प्राण में उत्तेजना
गुण न वह इस बाँसुरी की तान में;
जो चकित करके कँपा डाले हृदय,
वह कला पाई न मैंने गान में।

जिस व्यथा से रो रहा आकाश यह
ओस के आँसू बहाकर फूल में,
ढूँढ़ता उसकी दवा मेरी कला
विश्व-वैभव की चिता की धूल में

कूकती असहाय मेरी कल्पना
कब्र में सोए हुओं के ध्यान में;
खँडहरों में बैठ भरती सिसकियाँ
विरहिणी कविता सदा सुनसान में।

वैभव की समाधि

हँस उठी कनक-प्रान्तर में
जिस दिन फूलों की रानी,
तृण पर में तुहिन-कणों की
पढ़ता था करुण कहानी।

थी बाट पूछती कोयल
ऋतुपति के कुसुम-नगर की
कोई सुधि दिला रहा था
तब कलियों को पतझड़ की।

प्रिय से लिपटी सोई थी
त भूल सकल सुधि तन की,
तब मौत साँस में गिनती
थी घड़ियाँ मधु-जीवन की।

जब तक न समझ पाई तू
मादकता निज मधुवन की,
उड़ गई अचानक तनु से
कर्पूर-गंध यौवन की।

वैभव की मुसकानों में
थी छिपी प्रलय की रेखा;
जीवन के मधु-अभिनय में
बस इतना ही भर देखा।

निर्भय विनाश हँसता था
सुषमाओं के कण-कण में;
फूलों की लूट मची थी
माली—सम्मुख उपवन में।

माताएँ अति ममता से
अंचल में दीप छिपाती
थीं घूम रही आँगन में
अपने सुख पर इतराती।

पर, विवश गोद से छिनकर
फूलों का शव जाता था;
औ राजदूत आँसू पर
कुछ तरस नहीं खाता था।

धुल रही कहीं बालाओं
के नव सुहाग की लाली,
थी सूख रही असमय ही,
कलियों से लदी द्रुमाली।

मैं ढूंढ़ रहा था आकुल
जीवन का कोना-कोना,
पाया न कहीं कुछ, केवल
किस्मत में देखा रोना।

कलिका से भी कोमल पद
हो गये वन्य-मगचारी,
थे माँग रहे मुकुटों में
भिक्षा नृप बने भिखारी।

उन्नत सिर विभव-भवन के
चूमते आज धूलों को,
खो रही सैकतों में सरि,
तज चली सुरभि फूलों को।

है भरा समय-सागर में
जग की आँखों का पानी;
अंकित है इन लहरों पर
कितनों की करुण कहानी।

कितने ही विगत विभव के
सपने इसमें उतराते,
जाने, इसके गह्वर में
कितने निज राग गुँजाते।

अरमानों के इन्धन में
ध्वंसक ज्वाला सुलगाकर
कितनों ने खेल किया है
यौवन की चिता बनाकर।

दो गज झीनी कफनी में
जीवन की प्यास समेटे,
सो रहे कब्र में कितने
तनु से इतिहास लपेटे।

कितने उत्सव-मन्दिर पर
जम गई घास औ काई,
रजनी-भर जहाँ बजाते
झींगुर अपनी शहनाई।

यह नियति-गोद में देखो,
मोगल-गरिमा सोती है;
यमुना-कछार पर बैठी
विधवा दिल्ली रोती है।

खो गये कहाँ भारत के
सपने वे प्यारे-प्यारे ?
किस गगनाङ्गण में डूबे
वह चन्द्र और वे तारे ?

जय-दीप्ति कहाँ अकबर के
उस न्याय-मुकुट मणिमय की ?
छिप गई झलक किस तम में
भारत के स्वर्ण-उदय की ?

वह मादक हँसी विभव की
मुरझाई किस अंचल में ?
यमुने ! अलका वह अपनी
डूबी क्या तेरे जल में ?

अपना अतीत वीराना
भटका फिरता खँडहर में,
भय उसे आज लगता है
आते अपने ही घर में।

बिजली की चमक-दमक से
अतिशय घबराकर मन में,
वह जला रहा टिमटिम-सा
दीपक झंझाड़ विजन में।

दिल्ली ! सुहाग की तेरे
बस, है यह शेष निशानी;
रो-रो पतझड़ की कोयल,
उजड़ी दुनिया की रानी !

कह, कहाँ सुनहले दिन वे
चाँदी-सी चकमक रातें ?
कुंजों की आँख-मिचौनी,
हैं कहाँ रसीली बातें ?

साकी की मस्त उँगलियाँ,
अलसित आँखें मतवाली;
कम्पित, शरमीला चुम्बन,
है कहाँ सुरा की प्याली ?

गूँजती कहाँ कक्षों में
कड़ियाँ अब मधु-गायन की ?
प्रिय से अब कहाँ लिपटती
तरुणी प्यासी चुम्बन की ?

झाँकता कहाँ उस सुख को
लुक-छिप विधु वातायन से ?
फिर घन में छिप जाता है
मादकता चुरा अयन से ?

वे घनीभूत गायन-से
अब महल कहाँ सोते हैं?
वे सपने अमर कला के
किस खँडहर में रोते हैं?

वह हरम कहाँ मुगलों की,
छवियों की वह फुलवारी?
है कहाँ विश्व का सपना,
वह नूरजहाँ सुकुमारी?

स्वप्निल विभूति जगती की,
हँसता यह ताजमहल है!
चिन्तित मुमताज-विरह में
रोता यमुना का जल है

ठुकरा सुख राजमहल का,
तज मुकुट विभव-जल-सींचे,
वह शाहजहाँ सोते हैं
अपनी समाधि के नीचे।

कैसे श्मशान में हँसता
रे ताजमहल अभिमानी?
दम्पति की इस बिछुड़न पर
आता न आँख में पानी?

तू खिसक भार से अपने
ताज को मुक्त होने दे,
प्रिय की समाधि पर जा कर
पल-भर उसको रोने दे।

किस-किसके हित में रोऊँ?
पूजूं किसको दृगजल से?
सबको समाधि ही प्यारी
लगती है यहाँ महल से।

तज कुसुम-सेज, निज प्रिय का
परिरम्भण-पाश छुड़ाकर,
कुछ सुन्दरियाँ सोई हैं
वह उधर कब्र में जाकर।

जिनपर झाड़ी-झुरमुट में
खरगोश खुरच बिल करते;
निशि-भर उलूक गाते औ'
झींगुर अपना स्वर भरते।

चुपके गंभीर निशा में
दुनिया जब सो जाती है,
तब चन्द्र-किरण मलयानिल
को साथ लिये आती है।

कहती—"सुन्दरि! इस भू पर
फिर एक बार तो आओ,
नीरस जग के कण-कण में
माधुरी-स्रोत सरसाओ"।

तब कब्रों के नीचे से
कोई स्वर यों कहता है,
"चंद्रिके! कहाँ आई है?
क्यों अनिल यहाँ बहता है?

"वैभव-मदिरा पी-पीकर
हो गई बिसुध, मतवाली,
तो भी न कभी भर पाई
जीवन की छोटी प्याली।

"इस तम में निज को खोकर
मैं उसको भर पाई हूँ,
छेड़ती मुझे क्यों अब तू,
तेरा क्या ले आई हूँ?"

उस ओर, जहाँ निर्जन में
कब्रों का बसा नगर है;
वह एक राजगृह सुन्दर
बन गया शून्य खँडहर है।

उस भग्न महल के उर में
विधवा-सी सुषमा बसती;
टूटे-फूटे अंगों में
संध्या-सी कला विहँसती।

पावस ने उसे लगा दी
विधवा-चन्दन-सी काई;
जम गये कहीं वट, पीपल,
कुछ घास कहीं उग आई।

नीरव निशीथ में उसको
किरणों से विधु नहलाता,
प्रेयसि-समाधि पर चुपके
प्रेमी ज्यों अश्रु बहाता।

उस क्षण उसके आनन पर
सुषमा सजीव खिल आती,
उर की कृतज्ञता आँसू
बन दूबों पर छा जाती।

मूर्च्छित स्वर एक विजन से
उठ टकराता अम्बर में,
गूँजता क्षीण मृत स्वर-सा
क्रन्दन कोई खँडहर में।

जो कह जाता, "छवि पर मत
भूलो, जीवन नश्वर है,
वैभव के ही उपवन में
विकराल काल का घर है।

तृण पर जब ओस-कणों को
ऊषा रँगने आती है,
सुख, सौरभ, श्री, सोने से
जगती जब भर जाती है।

वृद्धा तब एक यहाँ तक
आती कुटीर से चल के,
जिसके सम्मुख बीते हैं
स्वर्णिम दिन भग्न महल के।

अपलक उदास आँखों से
विस्मित भूली अपने को,
खोजती भग्न खँडहर में
वह गत वैभव-सपने को।

सोचती, राज-सिंहासन
उस ऊँचे-टीले पर था,
उस ताल-निकट हय, गज थे,
रानी का महल उधर था।

"थीं सिंह-द्वार हो आतीं
सेनाएँ विजय-समर से,
उत्सव करने उस थल पर
आते थे लोग नगर से।"

तूफान एक उठ जाता
इतने में उसके मन में,
वह मन-ही-मन रोती है,
छा जाते अश्रु नयन में।

क्या कहूँ शून्य निशि रोती
सुन कितनी करुण पुकारें?
संस्मृति में सिसक रही हैं
कितनी सुनसान मजारें?

जगती की दीन दशा पर
रोते निशीथ में तारे,
सिसका फिरता सूने में
मलयानिल सरित - किनारे।

रोता भावुक मन मेरा,
कैसे इसको बहलाऊँ?
पृथिवी श्मशान है सारी,
तज इसे कहाँ मैं जाऊँ?

है भरा विश्व-नयनों में
उन्माद प्रलय-आसव का,
पद-पद पर इस मरघट में
सोता कंकाल विभव का।

यह नालन्दा-खँडहर में
सो रहा मगध बलशाली,
लिच्छवियों की तुरबत पर
वह कूक रही वैशाली।

ढूँढ़ते चिह्न गौतम के,
मन-ही-मन कुछ अकुलाती,
वन-विपिन गाँव-नगरों से
गंगा है बहती जाती।

कण-कण में सुप्त विभव है,
कैसे मैं छेड़ जगाऊँ?
बीते युग के गायन को
किसके स्वर में अब गाऊँ?

लेखनी! धीर धर मन में,
अब ये आवाहन ठहरें;
उठती ही इस सागर में
रहतीं सुख-दुख की लहरें।

युग-युग होता जायेगा
अभिनय यह हास-रुदन का;
कुछ चिनगारी से होगा
नित मोल मधुर जीवन का।

रज-कण में मिरि लोटेंगे;
सूखेंगी झिलमिल नदियाँ।
सदियों के कंकालों पर
रोती जायेंगी सदियाँ।

"मैं स्वयं चिता-रथ पर चढ़
निज देश चला जाऊँगा;
सपनों की इस नगरी में
जाने फिर कब आऊँगा!

तब कुशल पूछने मेरी
कोई राही आयेगा,
नभ की नीरव वाणी में
यह उत्तर सुन पायेगा।

मैंने देखा उस अलि को
कविता पर नित मँडराते;
वैभव के कंकालों को
लख कर अवाक् रह जाते।

आजीवन वह विस्मित था
लख जग पर छाँह प्रलय की;
था बाट जोहता निशि-दिन
भू पर अमरत्व-उदय की।

पर, स्वयं एक दिन वह भी
हो गया विलीन अनल में,
वह अब सुख से सोता है
प्रभु के शाश्वत अंचल में

सुन इसे सिहर जायेगा
पल-भर उस राही का मन,
ताकेगा वह ज्यों नभ को
छलकेंगे त्यों आँसू-कण।

१९३२]

:०: